05_ghanshyam_Layout 1 5/1/2014 5:19 PM Page 61

संवाद

अधूरा है समाज-विज्ञान का विकास

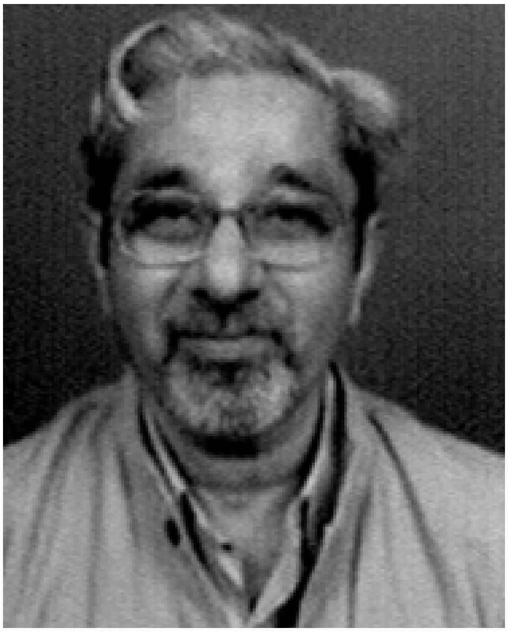

घनश्याम शाह अरुण कुमार त्रिपाठी

आधुनिक भारतीय समाज एक तरह से चुनावमय समाज है। निचले से निचले स्तर से लेकर ऊँचे से ऊँचे स्तर तक चुनाव होते रहते हैं। पूरा राष्ट्रीय सामाजिक जीवन चुनाव के ज़रिये संसाधित होता है और आधुनिकीकरण की प्रक्रिया भी काफ़ी हद तक चुनाव के ज़रिये ही चलती है। इस तरह चुनाव और समाज के विकास में सीधा रिश्ता नज़र आता है। फिर भी हमारे यहाँ चुनाव का समाजशास्त्र विधिवत् विकसित नहीं किया गया है। इसका इतिहास बहुत कमज़ोर है और वर्तमान तक़रीबन नदारद। आख़िर हमारे समाजशास्त्री इस ओर ध्यान क्यों नहीं देते?

घनश्याम शाह : इस रोचक और विचारोत्तेजक प्रश्न के लिए आपको धन्यवाद। अगर हम मार्च, 2014 के अंत में अपने चश्मे से आस-पास देखें तो पाएँगे कि आपकी यह बात सही है कि हमारा समाज चुनाव-संचालित है, चुनावमय हो गया है, चुनाव-केंद्रित हो गया है। सही है हमारे यहाँ गाँव से लेकर राष्ट्रीय स्तर तक चुनाव होते रहते हैं। हालाँकि हमें यह पक्का यक़ीन नहीं है कि हमारे सामाजिक जीवन के सारे आयाम चुनाव से ही संचालित और संसाधित होते हैं। मैं यह ज़रूर मानता हूँ कि राजनीति (यह इस बात पर निर्भर करता है कि हम राजनीति से क्या अर्थ लेते हैं) हमारे जीवन के कई आयामों (सभी नहीं) को प्रभावित करती है। मैं इस बारे में भी बहुत निश्चित नहीं हूँ कि चुनाव के माध्यम से किस हद तक आधुनिकीकरण की प्रकिया (फिर यहाँ वही बात आती है कि आप आधुनिकीकरण का क्या अर्थ लगाते हैं) चल रही है। यह महज़ भाषाशास्त्रीय

05_ghanshyam_Layout 1 5/1/2014 5:19 PM Page 62

मुद्दा नहीं है। यह एक सैद्धांतिक मुद्दा है जिस पर संवाद करने के लिए हमारे और आप के बीच कुछ साझा समझदारी होनी चाहिए। चलिए इसे यहाँ छोड़ते हैं।

मैं इस बात से सहमत हूँ कि ज़्यादा से ज़्यादा व्यक्ति चुनाव में रुचि ले रहे हैं। लोग क्रिकेट की तरह राजनीति के बारे में भी अनुमान लगाते रहते हैं। उसी के साथ मेरे विचार से पूरा समाज ज़्यादा से ज़्यादा राजनीति से विमुख भी हो रहा है। इस लिहाज़ से वे उन बड़े राजनीतिक मुद्दों से उदासीन हैं जो उनके जीवन को प्रभावित करते हैं। हाँ, तक़रीबन पैंसठ प्रतिशत लोग मतदान केंद्र तक जाते हैं और वोट देते हैं। पर इससे यही अर्थ नहीं निकलता कि समाज चुनाव-केंद्रित हो गया है। फिर आप और हम यहाँ चुनाव-केंद्रित होने का अलग-अलग अर्थ लेते हैं। हालाँकि मैं इस बात से सहमत हूँ कि हमारे सामाजिक-राजनीतिक जीवन में चुनाव महत्त्वपूर्ण है। ज़्यादा से ज़्यादा लोग इसकी बात

लोग क्रिकेट की तरह राजनीति के बारे में भी अनुमान लगाते रहते हैं। उसी के साथ मेरे विचार से पूरा समाज ज़्यादा से ज़्यादा राजनीति से विमुख भी हो रहा है। इस लिहाज़ से वे उन बड़े राजनीतिक मुद्दों से उदासीन हैं जो उनके जीवन को प्रभावित करते हैं।

करते हैं और इस प्रक्रिया में हिस्सा लेते हैं। हालाँकि उनके लिए मतदान के क्या मायने हैं इस बारे में मैं वाजिब भरोसे के साथ कुछ कह नहीं सकता। बस अनुमान लगा सकता हूँ। क्या उनके लिए यह महज़ एक रिवाज़ है या इस रिवाज़ का निर्वाह करते हुए व्यक्ति के मन में कुछ तार्किकता यानी उम्मीद और आकलन भी होता है? हाँ , यह एक प्रकार की आँख मूँद कर की जाने वाली यांत्रिक कार्रवाई नहीं है जिसमें उपलब्ध विकल्पों पर बातचीत नहीं की जाती। लेकिन उसी के साथ यह एक प्रकार की रिवाज़ी कार्रवाई ही लगती है क्योंकि मतदाता के सामने विकल्प सीमित रहते हैं और मतदाता या तो व्यापक आर्थिक नीति से अपने विकल्पों को जोड़ नहीं पाता या फिर वह महसूस करता है कि उस पर उसका कोई नियंत्रण नहीं है। लेकिन मतदाता उन्हीं में से किसी विकल्प को चुनता है क्योंकि उसके सामने विकल्प नहीं होते। एक तरह से जनता की प्राथमिकता अपने प्रतिनिधि के माध्यम से दर्ज होती है लेकिन प्रतिनिधि उसकी आवाज़ का प्रतिनिधित्व नहीं करता। ऐसा तब भी होता है जब उसका प्रतिनिधित्व करने वाला रहनुमा नीतिगत निर्णयों पर ख़ास असर नहीं रखता।

हमारे साथ विरोधाभास और पहेलियाँ जुड़ी हैं। मैं आपसे यह कहना चाहता हूँ कि समाज-विज्ञान को इन विरोधाभासों की जाँच की आवश्यकता है। लेकिन चुनाव के बारे में हमारे राजनीतिक समाजशास्त्र का विकास नहीं हुआ है। क्यों? पहला सरल जवाब यह है कि समाज-विज्ञान का ही पूरी तरह से विकास नहीं हुआ है। इसके कई कारण हैं। दूसरी बात यह है कि हमारे पास जितने थोड़े-बहुत समाज-विज्ञानी हैं वे सामाजिक आलोचक नहीं हैं। उन्होंने समाज-विज्ञानी होने की उस सामयिक अवधारणा को ग्रहण किया है जिसके तहत वे एक मूल्य निरपेक्ष तकनीशियन या विशेषज्ञ बन कर रह जाते हैं। दूसरी बात यह कि समाज-वैज्ञानिक शोध पर आलोचनात्मकता से रहित प्रत्यक्षवाद हावी है। इस कारण से चुनाव-अध्ययन शोध-सहायकों के माध्यम से होने वाले पूर्वनिर्धारित संकेतों के सर्वेक्षण तक सीमित हो गया है। इसमें पूछताछ की बात तो छोड़िए, क्यों जैसे सवाल पूछने और

05_ghanshyam_Layout 1 5/1/2014 5:19 PM Page 63

जवाबों की तहक़ीक़ात करने की कोई गुंजाइश ही नहीं बचती। यह बात लगभग भुलाई जा चुकी है कि मानवशास्त्रीय अध्ययनों से अवधारणाएँ और नये सवाल निकलते हैं जो सर्वेक्षण संबंधी शोधों के लिए प्रतिक्रियाएँ प्रदान करते हैं। प्रतिक्रिया लेने की इस प्रक्रिया की मीडिया ने या तो उपेक्षा कर दी है या उसे हटा दिया है। इस नज़रिये के साथ आप चुनाव संबंधी समाजशास्त्र के विकास की उम्मीद नहीं कर सकते। इसके अलावा राजनीतिशास्त्री मानते हैं कि जाति, सगोत्रीयता, सामाजिक संबंधों वग़ैरह के अध्ययन का काम समाजशास्त्र के दायरे में आता है। इसके अलावा रोज़गार, वेतन वग़ैरह जैसे आर्थिक मसले अर्थशास्त्र के विषय हैं। इसी तरह समाजशास्त्री और अर्थशास्त्री मानते हैं कि राजनीति तो राजनीतिशास्त्र का विषय है। हमारे विश्वविद्यालय के विभाग और उनके पाठ्यक्रम भी वही नज़रिया रखते हैं। इस तरह की संरचना, नज़रिया और हमारे बौद्धिक आधार के कारण इस

हमारे पास जितने थोड़े-बहुत समाज-विज्ञानी हैं वे सामाजिक आलोचक नहीं हैं। उन्होंने समाज-विज्ञानी होने की उस सामयिक अवधारणा को ग्रहण किया है जिसके तहत वे एक मूल्य निरपेक्ष तकनीशियन या विशेषज्ञ बन कर रह जाते हैं। ... शोध पर आलोचनात्मकता से रहित प्रत्यक्षवाद हावी है।

परिघटना के लिए सम्पूर्ण दृष्टिकोण के विकास की गुंजाइश कम रह जाती है। यह बात चुनावों के अध्ययन पर लागू होती है।

चुनाव के संदर्भ में सोसियोलॅजी और सेफ़ोलॅजी के बीच फ़र्क़ कैसे रेखांकित किया जा सकता है? समाज-विज्ञान की दृष्टि से सेफ़ोलॅजी की सीमाएँ क्या-क्या हैं? सेफ़ोलॅजी से अलग हटते हुए इलेक्शन की सोसियोलॅजी के क्या-क्या मुक़ाम हैं? वे कौन-कौन सी रिसर्च टेकनीक्स हैं जो इस सोसियोलॅजी के विकास में मददगार हो सकती हैं?

घनश्याम शाह : मेरी समझ से सेफ़ोलॅजी सांख्यिकी के औज़ार से किया जाने वाला चुनावी-प्रवृत्तियों का अध्ययन है। कुछ अवधारणाओं के आधार पर यह मतदान के रुझान की भविष्यवाणी करता है। साफ़ कहूँ तो मैं इसके बारे में जानता नहीं। जब हम सांख्यिकी के गुणात्मक आँकड़ों को महत्त्व देते हैं तो उससे वह नृतत्वशास्त्रीय शोध ख़ारिज नहीं हो जाता जो कि सामाजिक प्रक्रिया के बारे में अंतर्दृष्टि प्रदान करता है। उस अर्थ में सामाजिक और राजनीतिक शक्तियों और उनकी गति की व्याख्या करने में सेफ़ोलॅजी की सीमाएँ हैं।

कहा जाता है कि भारत में एक नये मध्यवर्ग का उभार हुआ है जो भारतीय जनता की भूमण्डलीय आकांक्षाओं का वाहक माना जाता है। क्या अपने वोट डालते समय इस वर्ग के सदस्य वर्गीय आचरण करते हैं या फिर ये लोग मतदाता के रूप में जातिगत निष्ठाओं को ही प्राथमिकता देते हैं?

घनश्याम शाह : आज के मध्यवर्ग की व्याख्या सिर्फ़ आय और व्यवसाय की आर्थिक कसौटी पर नहीं हो सकती। हर किसी के जीवन में बाज़ार जिस तरह से घुस गया है उससे उपभोक्तावाद विकसित हुआ है। और उपभोक्तावाद तमाम प्रकार से सामाजिक और आर्थिक सीमाओं को तोड़ता है। मैं नहीं

05_ghanshyam_Layout 1 5/1/2014 5:19 PM Page 64

समझता कि जैसा आप कह रहे हैं उस तरह से इस प्रकार के मध्यवर्गीय मूल्यों का जाति और समुदाय के मूल्यों से कोई विरोध है। इसलिए यहाँ किसी एक को छोड़ने और दूसरे को चुनने का सवाल नहीं है। यह मध्यवर्ग अधीर है। इसके सदस्य सुरक्षित नौकरी चाहते हैं, फटाफट आमदनी बढ़ाना और फ़ास्ट फूड चाहते हैं। वे अक्सर लफ़्फ़ाज़ी और सामाजिक-धार्मिक भावनाओं में बह जाते हैं। वे ग़रीबों से नफ़रत न भी करते हों, पर उन्हें पसंद भी नहीं करते और अमीरों से तो ईर्ष्या करते ही हैं। अगर आप इन्हें मध्यवर्गीय मूल्य कहते हैं तो वे उनके राजनीतिक चयन में भी साथ रहते हैं।

क्या चुनावी राजनीति ग्रामीण समुदाय और शहरी समुदाय पर अलग-अलग असर डालती है?

घनश्याम शाह : हाँ, एक हद तक गाँव और शहर की मतदान प्रवृत्ति अलग-अलग है। जब मैं ग्रामीण कहता हूँ तो मेरा मतलब उस मतदाता से होता है जो मुख्य रूप से ग्रामीण अर्थव्यवस्था और सामाजिक ताने-बाने से जुड़ा है।

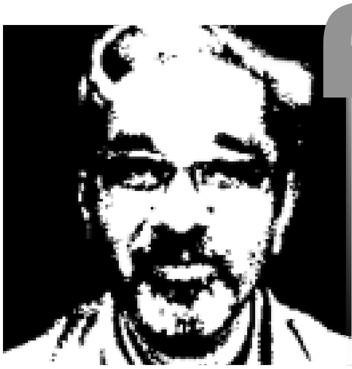

मध्यवर्ग अधीर है। इसके सदस्य सुरक्षित नौकरी चाहते हैं, फटाफट आमदनी बढ़ाना और फ़ास्ट फ़ूड चाहते हैं। वे अक्सर लफ़्फ़ाज़ी और सामाजिक-धार्मिक भावनाओं में बह जाते हैं। वे गरीबों से नफ़रत न भी करते हों, पर उन्हें पसंद भी नहीं करते और अमीरों से तो ईर्ष्या करते ही हैं।

क्या चुनाव की कोई समष्टिगत (मैक्रो) सोसियोलॅजी सम्भव है? क्या ऐसी कोई सोसियोलॅजी हो सकती है जो दक्षिण भारत की परिस्थितियों पर भी उतनी ही फ़िट बैठती हो जितनी उत्तर या पूर्वी और पश्चिमी भारत पर? या भारत में चुनाव की सोसियोलॅजी मुख्य रूप से व्यष्टिगत (माइक्रो) ही होगी यानी अलग-अलग राजनीतिक क्षेत्रों की सोसियोलॅजी अलग-अलग करनी होगी?

घनश्याम शाह : मैं मानता हूँ कि कुछ समाजशास्त्री/राजनीतिशास्त्री अपने अध्ययन को विशेष भौगोलिक क्षेत्र और सामाजिक समूह पर केंद्रित करते हैं इसलिए हम उन्हें भारतीय समाजशास्त्री या भारतीय राजनीतिशास्त्री या आधिवासी समाजशास्त्री वग़ैरह कहते हैं। क्योंकि एक व्यक्ति सभी चीज़ों का अध्ययन नहीं कर सकता इसलिए वह एक ख़ास क्षेत्र तक अपने को सीमित रखता है। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि अध्ययन का एक क्षेत्र दूसरे से स्वतंत्र है। मेरी राय में सभी समाज-विज्ञान परस्पर निर्भर हैं और उनकी जिज्ञासा एक व्यापक पद्धति और सिद्धांत की खोज करना है। इससे तुलनात्मक अध्ययन की आवश्यकता महसूस होती है न कि ज्ञान को पूरी तरह से विशिष्ट खाँचों में बाँटने की।

राजनीतिक समुदाय और सामाजिक समुदाय में क्या फ़र्क़ है? क्या मुसलमान, दलित या यादव एक राजनीतिक समुदाय हैं? क्या राजनीतिक समुदाय केवल मतदाता मण्डल की तरह ही आचरण करता है और इसके इतर उसका कोई वजूद नहीं होता?

05_ghanshyam_Layout 1 5/1/2014 5:19 PM Page 65

घनश्याम शाह : राजनीतिक समुदाय या सामाजिक समुदाय एक दिक्, काल और मुद्दों के निश्चित संदर्भ में राजनीतिक अस्मिता के लिए किसी समुदाय की तरफ़ से कभी बनाई गयी पहचान (निर्मिति) है। यह किसी विशेष उद्देश्य के लिए शोधकर्ता और पर्यवेक्षक की तरफ़ से बनाई गयी पहचान है। यह पहचान स्थिर नहीं होती। एक समुदाय एक संदर्भ में सामाजिक है और दूसरे संदर्भ में राजनीतिक है। दोनों संदर्भों में इसकी प्रकृत्ति और आयाम अलग-अलग हो सकते हैं। उदाहरण के लिए गमित (एक तरह का आदिवासी) अपने सामाजिक/वैवाहिक/बसावट के रिश्तों के लिए एक सामाजिक पहचान है। पर वह राजनीतिक समुदाय नहीं हो सकती। इस समुदाय के लोग विभिन्न राजनीतिक दलों के समर्थक हो सकते हैं। या जब वनोपज का सवाल उठता है तो गमित समुदाय दूसरे आदिवासियों से हाथ मिला लेता है और आदिवासी राजनीतिक समुदाय का हिस्सा बन जाता है।

एक समुदाय एक संदर्भ में सामाजिक है और दूसरे संदर्भ में राजनीतिक। ... गमित (एक तरह का आदिवासी) अपने सामाजिक/वैवाहिक/बसावट के रिश्तों के लिए एक सामाजिक पहचान है। ... वनोपज का सवाल उठता है तो गमित समुदाय ... आदिवासी राजनीतिक समुदाय का हिस्सा बन जाता है।

वोट बैंक एक समाजशास्त्रीय अवधारणा है, लेकिन आजकल इसका इस्तेमाल ख़ासे ढीले-ढाले ढंग से पत्रकारों और सेफ़ॉलॉजिस्टों द्वारा किया जाता है। क्या भारत में वोट बैंक पॉलिटिक्स वास्तव में होती है?

घनश्याम शाह : मेरा जवाब हाँ भी है और न भी। अतीत में एक गाँव का ज़मींदार या साहूकार या शिक्षक/डॉक्टर या पुरोहित गाँव की बड़ी आबादी पर असर रखता था और उसके कहने से वे इस या उस उम्मीदवार को वोट दे देते थे। लोग मध्यस्थों की इज़्ज़त किया करते थे और वह इतना चतुर होता था कि उनकी ज़रूरतें पूरा करता था या पूरा करवाता था। उस अर्थ में मध्यस्थ लोग बड़ी संख्या में मतदाताओं को अपनी मुट्ठी में रखते थे। राजनीतिक प्रतिस्पर्धा बढ़ने के साथ अब वैसा नहीं रह गया है। लोगों ने अपने विचार बना लिए हैं और वे स्वयंभू नेताओं के साथ मिल भी सकते हैं और नहीं भी। कोई भी नेता यह मान कर नहीं चल सकता कि उनके सभी समर्थक या किसी इलाक़े या समुदाय के सारे सदस्य अपने राजनीतिक विचार को उसी तरह से व्यक्त करेंगे : या अपने विचार को एक साथ बदल देंगे। चूँकि विकल्प सीमित हैं इसलिए किसी समुदाय या इलाक़े के सभी नहीं बल्कि तमाम सदस्यों की राजनीतिक राय/प्राथमिकता हो सकती है, लेकिन महत्त्वपूर्ण यह है कि उनमें से ज़्यादातर मानते हैं कि चयन उनका अपना है न कि समुदाय या इलाक़े का। उस अर्थ में वे वोट बैंक के रूप में काम नहीं करते।

05_ghanshyam_Layout 1 5/1/2014 5:19 PM Page 66

राजनीतिशास्त्र को अपनी एम्पिरिकल ग्राउंडिंग य तथ्यगत आधार काफ़ी कुछ चुनावी अध्ययनों से मिला है। इसमें विकासशील समाज अध्ययन पीठ (सी.एस.डी.एस.) की अग्रणी भूमिका रही है। एक समाजशास्त्री के रूप में इस भूमिका का आप कैसे मूल्यांकन करते हैं?

घनश्याम शाह : सी.एस.डी.एस. देश का पहला संस्थान है जिसने 1967 से चुनावी सर्वेक्षण शुरू किया और थोड़े बहुत व्यवधान के अलावा उसे जारी रखे हुए है। इसने मतदान की प्रवृत्ति के विविध आयामों का विश्लेषण करने के लिए उपकरण और पद्धति विकसित की है। लेकिन उसे सर्वे के साथ-साथ ऐसे मानवशास्त्रीय अध्ययन विकसित करने चाहिए थे जो उन कुछ पहेलियों को सुलझाएँ जिनसे सर्वेक्षण के आँकड़े पैदा हुए हैं। जब आप गहराई में जाकर अध्ययन करेंगे तो उससे अध्ययन-पद्धति/सवालों का कायाकल्प होगा । उसी के साथ यह पता चलेगा कि मतदाता मतदान को क्या समझता है, मतदाता राजनीतिक दलों, उम्मीदवारों और सरकारी अफ़सरों वग़ैरह से अपना क्या रिश्ता मानता है और उससे कैसे संवाद करता है। इसके अलावा किसी निश्चित दिन मतदान का काम किस तरह से उनकी रोज़मर्रा की राजनीति से संबंधित है। हम एक बेहद चुनौतीपूर्ण दौर से गुज़र रहे हैं। इसलिए ज़रूरी है कि हम राजनीतिक प्रणाली और चुनाव की अपनी अवधारणा को नये सिरे से देखें।

भारत में राजनीतिक पार्टियों की रचना पूरे समाज की नुमाइंदगी के दावे से शुरू हुई थीं। यह बात अलग है कि ये राजनीतिक पार्टियाँ भी अघोषित रूप से किसी न किसी जाति समूह के वर्चस्व के तले काम करती थीं। पर अब खुले रूप से बिरादरियों की अलग-अलग पार्टियाँ बनने लगी हैं। क्या इस राजनीतिक परिघटना की कोई समाजशास्त्रीय व्याख्या सम्भव है?

घनश्याम शाह : एक तरफ़ पार्टियों के सामाजिक/जातिगत/सामुदायिक समर्थन आधार होते हैं और दूसरी तरफ़ एक या दूसरी जाति या समुदाय के आधार पर पार्टियाँ खड़ी होती हैं। हमें इनके अंतर को समझना होगा। दूसरी श्रेणी की पार्टियाँ थोड़ी हैं और वे ज़्यादा दिनों तक नहीं रह सकतीं।

क्या आप भारत में चुनाव के समाजशास्त्र का अध्ययन करने के लिए कोई अकादमिक एजेंण्डा प्रस्तावित करना चाहेंगे?

घनश्याम शाह : मुझे नहीं लगता कि चुनाव का समाजशास्त्र को विकसित करने के लिए किसी तरह के अकादमीय प्रयास की कोई ज़रूरत है।

05_ghanshyam_Layout 1 5/1/2014 5:19 PM Page 67

मतदाताओं का संसार